

हाशिए पर आदिवासी समाज और संस्कृति

सारांश

प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से आदिवासी समाज को किस तरह से भारत में हाशिये पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस पर विचार विश्लेषण करना है। आजादी के बाद से सबसे अधिक विस्थापन की मार झेल रहे भूमिपुत्रों के प्रति न तो कोई सरकार, राज्य या केन्द्र की, विकास या पुर्नवासन के लिये ठोस कदम उठाये हैं। बल्कि कापोरेट की दलाली से सरकारें आदिवासियों के समाज और संस्कृति को समाप्त करने की राह पर हैं।

मुख्य शब्द : क्रान्तिकारी, स्वतन्त्रता, सैद्धान्तिक, देशभक्ति, ब्रिटिशराज, देशी राज्य,

प्रस्तावना

आजादी के 67 साल बाद भी भारत में आदिवासी उपेक्षित, शोषित और पीड़ित नजर आ रहे हैं। किसी भी राजनीतिक दल ने न तो अपने घोषणा पत्र में आदिवासियों की समस्याओं को उठाया और न ही कभी चुनाव अभियान में उनके हित की बात उठाई है। आदिवासी किसी भी राज्य या क्षेत्र विशेष में नहीं बल्कि पूरे देश में फैले हैं। आदिवासी समाज को आजाद भारत में सबसे अधिक वेदना झेलनी पड़ रही है। आज भारत में आदिवासी कहीं पर नक्सलवाद से जूझ रहे हैं, तो कहीं पर अलगाववाद की आग में जल रहे हैं। जल, जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतर होता चला आ रहा है। देश के लगभग आठ करोड़ से अधिक आबादी वाल इस आदिवासी समाज को वर्तमान राजनीतिक पार्टियां केवल अपने वोट बैंक को कायम रखने के लिए एक झूठी परम्परा कायम कर रखी है।

भारतीय समाज में आदिवासियों को सदा ही हाशिए पर रखा गया है। अंग्रेजों ने आदिवासियों पर जितना अत्याचार किया है, आजाद भारत के तथाकथित साधन सम्पन्न समाज आज उससे भी अधिक अत्याचार आदिवासियों पर कर रहा है। आदिवासियों के ऊपर हो रहे अत्याचारों को भारत सरकार खत्म करने की कोई चेष्टा नहीं कर पाई और न कर रही है। आदिवासी समुदायों को इस तरह से नजर-अंदाज करके सरकार नक्सलवाद को पनपने के लिए जमीन प्रदान कर रही है।

देश के सुदूर अंचलों में, घने जंगलों में, पहाड़ों पर, रहते हुए अन्य नागरिकों को प्राप्त सुख-सुविधाओं से अनभिज्ञ अधिकांश आदिवासी आधुनिक प्रगति से दूर, पहले से भी बदतर जिंदगी जीने के लिए अपमान और यातना सहने के लिए मजबूर हैं। आखिर कौन सी मजबूरी या डर है, जिसके चलते आज भी आदिवासी समाज को विकास की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास नहीं किया गया ?

आज के वैश्वीकरण, बाजारीकरण, निजीकरण, उदारीकरण, सूचना और प्रौद्योगिक, उत्तर-आधुनिकता, तकनीकी, और आधुनिकीकरण के इस युग में यदि कोई समाज विकास की धारा से जुड़ नहीं पाया तो वह आदिवासी समाज है। भारत में आदिवासी समाज आज भी सबसे अधिक पिछड़ा और उपेक्षित है।

आदिवासियों का शाषण महाजन, पूँजीपति, सरकारी कर्मचारी, अधिकारी तथा पुलिस कर्मचारी करते आ रहे ह।

भूमंडलीकरण और बाजारवाद के आगमन से एक ओर आर्थिक विकास के दिखावटी महल तैयार हुए, आर्थिक प्रगति के लिए नारे लगाए जा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप बढ़ती आबादी और तथाकथित पूँजीवादी धर की बढ़ती ने आदिवासियों को हाशिए पर ला कर खड़ा कर दिया है। आज जंगल सिकुड़ते जा रहे हैं। कुछ लोगों के स्वार्थ हेतु, बाजारवाद की आँधी ने पूँजीवादी दौलत का जो प्रपंच रचा है उसने भूमि-पुत्रों को विस्थापित करने के लिए और हाशिए पर रहने के लिए मजबूर कर दिया है।

भारतवर्ष में मिजोरम, नागालैंड, मेघालय जैसे छोटे-छोटे राज्यों में 80 से 92 प्रतिशत तक आबादी आदिवासियों की है। बड़े राज्यों में मध्य



रणजीत कुमार सिन्हा

अध्यापक,
हिन्दी विभाग,
खड़गपुर कालेज,
पश्चिम मिदनापुर (पं.बं)

प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, बिहार, झारखंड, गुजरात, राजस्थान, छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में आदिवासियों की आबादी 8 से लेकर 23 प्रतिशत तक है, पर सभी स्थानों पर ये हाशिए पर है।

भारत सरकार द्वारा सदा ही उपेक्षित और वर्तमान समय में भूमंडलीय पूँजी के विस्तार एवं बाजारवाद के चलते आदिवासी समाज आज कहीं नक्सलवाद तो कहीं अलगाववाद का शिकार समय – समय पर होता रहता है। आदिवासियों का शोषण महाजन, पूँजीपति, सरकारी कर्मचारी, अधिकारी, पुलिस, नेता, माफिया सभी करते आ रहे हैं। बाजारवाद और अमेरिकी विकास मॉडल का आगमन, जल परियोजनाओं के कारण, विस्थापन, औद्योगीकरण के नाम पर विस्थापन, सुरक्षा परियोजनाओं के नाम पर विस्थापन, जंगल को सुरक्षित करने का नाटक रच कर आदिवासी समाज को विस्थापित करने की रणनीति आज भी कायम है। सरकारें –राज्य एवं केन्द्र – दोनों ने आदिवासी समाज को उनके परम्परागत अधिकारों से वंचित करने की हर कोशिश को कायम रखा है।

आज के आलोचक, संपादक, विमर्षकार जिस प्रकार स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श की समस्याओं, अल्पसंख्यकों की समस्याओं को साहित्य की मुख्यधारा में लाने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं, अगर उसकी एक चौथाई भी वे आदिवासी समाज की समस्याओं पर कलम चलाते तो, इस समाज को आज हाशिए पर नहीं जाना पड़ता। बड़ी शर्म की बात है कि भारत में सबसे अधिक संख्या में बोली एवं समझी जाने वाली भाषा हिन्दी के लेखकों, आलोचकों, संपादकों ने भी आदिवासियों को सदा दरकिनारा किया है।

सन् 1952 में देवेन्द्र सत्पथी का 'रथ के पहिए' आदिवासी समाज पर लिखा गया पहला उपन्यास है, जिसमें मध्य प्रदेश की गोंड जनजाति की गाथा है। यह उपन्यास पढ़ने के बाद पता चलता है कि आज भी किस तरह आदिवासी समाज उपेक्षित है। यह उपन्यास आदिवासियों के जीवन और लोकाचारों की इतनी जिन्दा और प्रमाणिक तस्वीर पेश करता है कि आँख से आसूँ टपकने लगते हैं।

अघोषित रूप से बाजारवाद भारत में 1980 से लागू होता है और घोषित रूप से 1990 से। अतः 1990 के बाद से समकालीन हिन्दी उपन्यासों में खासकर गैर आदिवासी लेखकों का झुकाव आदिवासी समाज, संस्कृति और उनकी समस्याओं को केन्द्र में रखकर हिन्दी भाषा के लेखकों ने आदिवासी समाज की समस्याओं को लेकर सजग हुए हैं कुछ लेखक। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन की व्यथा-पीड़ा, उत्पीड़न, शोषण, संघर्ष, त्याग, योगदान तथा इस समाज की वर्तमान समस्याओं, इनकी दयनीय हालत को संवेदना के साथ अभिव्यक्ति मिली है।

समकालीन आदिवासी जीवन पर केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में 'जंगल जहाँ से शुरू होता है', 'पाँव तल की दूब', 'जंगल के फूल', 'समर शेष है', 'अल्मा कबूतरी', 'डूब', 'जहाँ बॉस फूलते हैं', 'पठार पर कोहरा', 'वनतेरी सहराना', 'जंगल के आसपास', 'काला पहाड़', 'रेत', 'भारत बनाम इंडिया', 'सु-राज', 'जो इतिहास में नहीं है', 'कगार

की आग', 'मौसी', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता दश', 'रह गयी दिशाएँ इसी पार' आदि उल्लेखनीय हैं।

इन उपन्यासों में उपन्यासकारों ने यह दिखाया है कि किस प्रकार बाजारवादी नीति एवं अमेरिकी विकास मॉडल ने बचे हुए आदिवासी समाज को हाशिए पर लाकर खड़ा कर दिया है। 'काला पादरी' उपन्यास में उपन्यासकार तेजिन्दर ने यह दिखाया है कि किस प्रकार मध्य प्रदेश के महेशपुर जैसे असंख्य गाँवों में धर्म परिवर्तन करने वाले आदिवासियों के ऊपर किस प्रकार से अत्याचार हो रहे हैं, इस उपन्यास पर अपना मत जाहिर करते हुए उदय प्रकाश कहते हैं – "मध्य प्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित होती घटनाओं और जंगलों के पास साँस लेते जीवन का इतना गहन विवरणात्मक, संवेदनशील और सूक्ष्म आकलन समकालीन कथा साहित्य की एक विरल उपलब्धि है।"¹

मध्य प्रदेश में आदिवासियों की हालत बड़ी भयानक एवं दर्दनाक है। भूख के चलते इनकी मौत होती है। 'काला पादरी' उपन्यास में यह दिखाया गया है कि – "आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाके में कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर, उनका माँस तक खा रहे हैं।"²

प्रस्तुत उपन्यास में हम पाते हैं कि चर्च, राजनेता, मुख्यमंत्री सभी केवल आदिवासी समाज को उगते हैं।

'धार' उपन्यास में किस प्रकार भारत के आदिवासी समाज को जनजाति से अभिहित किया गया है, और हिन्दू धर्म के समर्थकों ने उन्हें 'वनवासी' की संज्ञा प्रदान कर दिया है। किस प्रकार आदिवासी समाज को हाशिए पर ले जाने के लिए एक नयी नीति को अपनाया गया है विकास के लिए, 'सावधान नीचे आग है' में कोयला खदानों में मजदूरी करने वाले आदिवासियों के संघर्षशील, भयावह, असुरक्षित, शोषित जीवन को चित्रित किया है।

'जंगल जहाँ से शुरू होता है' में संजीव ने बिहार के चम्पारण जिले की जनजाति को केन्द्र में रखकर उनको किस प्रकार समाज उपेक्षित कर रहा है, लड़कियों को बेचने तक के लिए किस प्रकार मजबूर कर रहा है, इन सारे हालातों का वर्णन किया है। आखिर आदिवासी डाकू क्यों बना – "पहले चीनी मिल बंद हुई, फिर खेत बंधक हुए, मेहरारू मरन सेज पर और बेटों को साँप ने डँसा। मकान कहाँ, जमीन गई, कहाँ जायें, क्या खायें, कहाँ रहें, हक की कमाई मांगने पर ठेकेदार के पास पैसे नहीं हैं। क्या वह इन हरामखोरों के यहाँ बेगार करने के लिए पैदा हुआ है। डाकूओं के निर्माण में यही भूमिका है, फिर ये आते हैं जमींदारों के पास, मिल के सेठों के पास। जबरन वसूली, बलात्कार, दमन इनकी ट्रेनिंग नहीं मिलती है। कुछ दिन बाद ये स्वतंत्र रूप से खुद के लिए यही करते हैं और डकैत बन जाते हैं। नाम कर गये, प्रभाव क्षेत्र का विस्तार हो गया तो मंत्री लोगों के काम करने लगते हैं – जबरन चंदा वसूली, पार्टी फण्ड, बूथ कैम्पसिंग, लठौती।"³ (पृ. – 105, जंगल जहाँ से शुरू होता है)

श्री प्रकाश मिश्र का उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' मिजोरम की मिजो जनजाति एवं लुशाई पहाड़ियों पर रहने वाली आदिवासी जाति को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। मनमोहन पाठक ने 'गगन घटा घहरानी' में झारखंड के पलामू जिले के ओराँव आदिवासी समाज में जो शोषण, अभाव, अत्याचार होते आ रहे हैं, उन पर प्रकाश डाला है।

'जहाँ बाँस फूलते हैं' में पेट की भूख के लिए जब एक समाज संघर्ष करता हुआ एक स्वतंत्र राष्ट्र की मांग कर रहा है, तो उस मांग को अलगाववाद का तकमा देकर राष्ट्र द्रोही बना दिया जाता है। मिजोरम में अकाल पड़ा। उसी के परिणाम स्वरूप विद्रोह हुआ। सरकार द्वारा किए गए प्रबंध का उत्तर देता हुआ वहाँ का विद्रोही कहता है — "देखो मिजोरम में प्रति व्यक्ति 38 प्रतिशत शिक्षा पर केन्द्रीय सरकार खर्च कर रही है, विकास पर गुडेचा उसे रोक कर कहता है — बस हम समझ गये तुम्हारा तर्क, किन्तु यह कब से खर्च कर रही ह, क्योंकि हमारा निशाना अचूक है। हमारे तीन कमाण्डो तुम्हारी फौज की पूरी टुकड़ी खत्म कर देते हैं। तब अपनी मजबूरी छिपाने के लिए हमें बेकवर्ड कह देते हो, हमारे अपलिस्ट के लिए पैसा भेजते हो।"⁴ (विमश के विविध आयाम, डॉ. अर्जुन चव्हाण, पृ. — 213, वाणी प्रकाशन 1990)

मिजोरम के आदिवासियों के बीच शिक्षा-विकास जनतंत्र तथा राष्ट्रवाद कोई मायने नहीं रखते हैं। एक ज्वलंत प्रश्न इन स्थितियों में जीने वाले लोग संविधान, समाज और राजव्यवस्था के सामने बार-बार उठा रहे हैं।

मनमोहन पाठक ने 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में जंगल में शोषित और संघर्षशोल जीवन जीने वाली ओराँव जाति के पिछड़ेपन, भूख एवं दयनीय समस्याओं को दिखाया है। राय बहादुर जैसे सामंती लोग केवल सपने दिखाते हैं।

भगवान दास मोरवाल का 'रेत' जो सन 2008 में प्रकाशित हुआ, इस उपन्यास में लेखक ने कंजर जाति के उस जीवन को उद्घाटित किया है, जहाँ कामुकता है, जुगुप्सा है तो स्तब्ध करने वाली मार्मिक परम्पराएँ और बंधन भी ह। कंजर जनजाति सभ्य समाज की दृष्टि से अस्पृश्य, घृणित, पतित है। इस जाति का अपना एक इतिहास है, संस्कृति है, यह स्त्री-प्रधान संस्कृति वाली जाति है। वेश्यावृत्ति इस जाति का पेशा है, पर इस जनजाति का अपना कानून तथा रिवाज भी है जिनसे वे बंधे रहते हैं। इस जनजाति की स्त्री पूरी तरह स्वतंत्र है। मात्र इनकी जिंदगी दूसरों के लिए मुट्ठी भर रेत है। देह को माध्यम बनाकर अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए आज भी सभ्य समाज की औरतें जो कुछ नहीं कर पा सकती उसे उपन्यास की प्रधान पात्रा रुक्मिणी कर पाती है। वह अनपढ़ है परन्तु मरली जैसा घाघ राजनीतिज्ञ उसका शोषण नहीं कर पाता है। 'रेत' उपन्यास में भगवानदास मोरवाल ने कंजर और अन्य जनजातियों का शोधात्मक चित्रण किया है। इस उपन्यास में वैद्य जी नामक पात्र कंजर जाति की स्त्रियों का जीवन सुधारने का प्रयास करता है, दलदल से बाहर निकालने का प्रयास

करता है। कंजर जाति की स्त्री भले ही वेश्या व्यवसाय करती है परन्तु शोषित कदापि नहीं है।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'महारण्य में गिद्ध' — 2008 में बिहार और झारखंड के ग्रामीण और आदिवासी जीवन की विसंगतियों और त्रासदियों को उद्घाटित करता है। उपन्यास का केन्द्र बिन्दु झारखंड का वह अरण्य है जहाँ के राजा जंगल के मूल निवासी ह। वे झारखंड मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं परन्तु व्यवस्था की तरफ से विकास के नाम पर कोई भी काम नहीं किया जाता है। शहर के ठेकेदार, पुलिस और प्रशासन जंगल को बरबाद कर रहे हैं और आदिवासी जंगल को बचाने के लिए संघर्ष करते हैं। ददुआ मानकी पत्रकार अजय जोशी को अपने जंगल की वास्तविकता उजागर करते हुए कहता है — "देखते हो न जाशी बाबू कैसे पहाड़ को बरबाद करके रख दिया है इन दो नंबरी ठेकेदारों ने।" जंगल के मूल निवासियों में जागृति आ गई है। इसलिए वे जंगल को नष्ट नहीं होने देते, तभी तो ददुआ कहता है, "अरे कितने दिन जिएँगे हम लोग ? कितने आदिवासी को जीने देगी यह सरकार ? एक दिन ऐसा जरूर आएगा, जोशी बाबू कि हमारे जंगल का आखिरी पेड़ भी कटवा लेगी सरकार। उसी दिन देश-दुनिया को पता चलेगा कि खदान कारखाने का माल आम आदमी का पेट नहीं भर सकता। रुपया चबाकर नहीं जीता आदमी। आदमी का पेट भरता है अन्न-पानी से सो मिलेगा इसी जंगल से।"⁵ (संवेद पत्रिका, 2008, पृ. — 29)

उपन्यासकार ने यहाँ पर दिखाया है कि किस तरह सरकार जंगल के सही हकदारों को हाशिए पर ले जाने के लिए खनन के नाम पर लूट कर रही है। गल को इन गिद्धों से बचाना और जंगल के हकदार जो हाशिए पर हैं, उनको मूल स्रोत में लाना ही उपन्यास का मुख्य विषय है।

'पाँव तले की दूब' (1995) उपन्यास में संजीव ने झारखंड में बढ़ते औद्योगिकीकरण के चलते विस्थापित आदिवासी समाज के यथार्थ को चित्रित किया है। "फिलीप की यह धरती हमारी सोना उगलती है और इस सोने को धरती की हम कंगाल संतान है।"⁶ (पाँव तले की दूब, हंस, सितम्बर 1996, पृ.— 76)

आदिवासी समाज व्यवस्था मातृ सत्तात्मक होने के कारण नारी का सम्मान करता है। आज की आदिवासी नारी संघर्षरत होकर अपने अधिकार के लिए विद्रोही बनी है, यह चेतना का प्रमाण है। 'कब तक पुकारूँ' में इज्जत लूटने पर बाँके के खिलाफ कजरी द्वारा संघर्ष करना, 'सूरज-किरण की छाँव' में पति से तलाक लेने वाली बंजारी बंजो। अंग्रेजों के खिलाफ संगठन करने वाली 'वन के मन' में गोनो-प्रथा के खिलाफ विद्रोह करने वाली भील जिनकी वनवासी में बिन्दू द्वारा धर्मान्तरण करके मनचाहे बेजोड़ के साथ विवाह करना, जंगल के फूल, शलूश, जंगल के आसपास में जमीन पर अधिकार के लिए संघर्ष करना, जंगलों पर अधिकार बनाना, ठेकेदारों की मनमानी को रोकना इससे लगता है कि वह अपने हक, अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं। परन्तु पृथ्वीपति उसे कुचल रहे हैं। मैना कहती है — "चारों तरफ भेड़िए गुर्रा रहे हैं। वे

हमें खा जाने पर आयकर है, हमें धार की जरूरत है। सतत समाज जो ताजा होती धारा।”⁷ (धार – संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन, 1990, पृ- 195)

‘पाँव तले की दूब’ में भूख से, कुपोषण स मरते हुए जनजाति समाज को दिखाया गया है। वे किस रतह समाज की मुख्य धारा से विस्थापित हो रहे हैं। इसके पीछे किसकी साजिश है, इसे भी दिखाया गया है।

आदिवासी समाज स्वास्थ्य क बारे में अज्ञानी होने से कुपोषण का शिकार हो रहा है। आदिवासी मजबूरी एवं भुखमरी में जीवन बिताते हैं।

‘सावधान नीचे आग है’ उपन्यास में पेट की आग को मिटाने के लिए संचाल आदिवासी शिकार करते हैं। ‘सावधान नीचे आग है’ उपन्यास में पूँजीपतियों द्वारा आदिवासियों के शोषण का वर्णन संजीव ने किया है। चंदनपुर कोयला खदान के आर्थिक स्वार्थ से अंधे बने खदान मालिक किस प्रकार शोषण कर रहे हैं, इसका चित्रण है। खदान में काम करते समय जब बोअर होल से पानी निकल आता है तो खदान में पानी का जोर बढ़ने के कारण सामने आती मौत को देखकर आदिवासी सोमारू कहता है – ‘स्सलों, हम बोलते रह गये कि, हम काम नहीं करेंगे, मगर साले ने गुल्ली की ढँसनी ही दी और चमचे पाठकराम ? क्या मिला तुमको चमचागिरी करके ! खुद तो गये ही ले गये हजार और बेकसूर आदमियों को।” 8 (सावधान ! नीचे आग है – संजीव, पृ- 167)

इस प्रकार इस उपन्यास में आदिवासी अरण्यमुखी समाज, संस्कृति और उनके अज्ञान गरीबी के कारण भुखमरी तथा कुपोषण से जूझता जीवन का यथार्थ है। पर भारत के इन सपूतों की इस हालत के लिए आखिर कौन जिम्मेदार है ? आजादी के आन्दोलन में

योगदान देन वाले इन सपूतों को क्यों हाशिए पर भेजा जा रहा है? आदिवासी प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के रक्षक हैं पर आज आजाद भारत में वे क्यों हाशिए पर ला कर खड़े कर दिए गए ?

आज के आधुनिक भारत (साइनिंग इंडिया) में आदिवासी समाज को क्या प्राप्त हुआ है ? जिस आदिवासी संस्कृति, भाषा, साहित्य , बोलियों की दुहाई देकर विश्वविद्यालयों में शोध कार्य हो रहे हैं और तथाकथित आयोग की स्थापनाएं होती हैं, क्या वे पूरी ईमानदारी से कार्य कर रहे हैं? आजाद भारत की सरकार को जरा भी शर्म नहीं आती कि जहाँ एक बहुत बड़ी आबादी पेट की आग बुझाने के लिए दो जून की रोटी के लिए तड़प रही है, रोजगार का कोई प्रबंध नहीं है, पर सरकार आदिवासी बस्तियों, पहाड़ों पर प्रसाधन गृह बनवाकर दे रही है। आज भी आदिवासी समाज जंगलों में दर-दर की ठोकें खाते नजर आ रहे हैं। कभी सरकार द्वारा विकास के नाम पर, तो कभी बाजारी नीति के चलते।

संदर्भ ग्रंथ

1. ‘काला पादरी’, तेजिन्दर
2. वही
3. जंगल जहां से शुरू होता है, संजीव, पृ. – 105,
4. विमर्श के विविध आयाम, डा. अर्जुन चव्हाण, पृ. 2013, वाणी प्रकाशन 1990
5. संवेद पत्रिका, 2008, पृ. 29
6. पाँव तले की दूब, हंस, सितम्बर 1996, पृ. 76
7. धार, संजीव, राधाकृष्णन प्रकाशगण, 1990, पृ. 195
8. सावधान ! नीचे आग है, संजीव पृ. 167